प्राचीन भारत की सामाजिक एवं राजनैतिक सरंचना

गौरव कुमार राय
शोध छात्र
नेहरू ग्राम भारती विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

विश्व का सन्तुलन अपनी आन्तरिक शक्ति से चल रहा है। समाज में संतुलन रखने के लिए मर्यादा और व्यवस्था स्थापित करनी पड़ती है। मनुष्य भी विश्वव्यापी समन्वय का एक अंग है। वह अपने को इस विश्वव्यापी समन्वय के अनुरूप बनाने के लिए अपनी वासनाओं, भावनाओं, विचारों, प्रवृत्तियों और आवश्यकताओं का सन्तुलन करके अपने व्यक्त्वि को व्यवस्थित करता है। दूसरी ओर अपने बंधुओं के साथ अपने व्यवहार, आचार, व्यापार, संपर्क और संबध को ठीक कर समाज को संगठित करता है। यह समन्वय कुछ मान्यताओं पर आधारित रहता है, यदि ये मान्यताएं बुद्धि–संगत और ज्ञान–गर्भित न हों तेा निश्चल अंधविश्वासों और कट्टर दुराग्रहों में बदल कर समन्वय में बाधक हो जाती है। इन ज्ञान समन्वित, कर्मपरक मान्याताओं को ही धर्म कहते है। इन मान्यताओं को बाहरी अभिव्यक्ति, आचारों, कर्तव्यों और पारस्परिक संबेंधों के रूप में होती है। जिनसे समाज का ढाँचा बनता हैं।

धर्म का उद्देश्य समाज में संतुलन रखना है। यह सन्तुलन तभी रह सकता है जब मनुष्य प्राणिमात्र को ईश्वर की सृष्टि कर समानता का व्यवहार करें। ऋग्वेद के अंतिम सूक्त से धर्म के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार सभी मनुष्यों को मिलकर चलना चाहिए, सबको ज्ञानी बनना चाहिए और सबको अपना कर्तव्य करना चाहिए[1] इस प्रकार का सामाजिक संगठन तभी संभव है जब सबमें विचार सत्य पर आधारित हों। ऋग्वेद में कहा गया है कि सोम सत्य की रक्षा करता है और असत्य को नष्ट करता है।[2]

ऋग्वैदिक सामाजिक संगठन जनजातीय अवस्था को पार नहीं कर पाया था।[3] जनजातीय जीवन की प्रमुखता के संकेत इस बात से भी मिलते हैं कि ऋग्वेद में 'जन' और 'विश्' शब्द का प्रयोग बार–बार हुआ है। ऋग्वेद में 'जन' शब्द 275 बार और 'विश्' 171 बार प्रयुक्त हुआ है।[4] सभी स्थलों पर समुदायों का बोध नहीं भी होने से ऋग्वेद में इन समुदायों के महत्व को नकारा नहीं जा सकता। भरत जन मिलते हैं, यदु जन मिलते हैं और त्रित्सु विश् मिलते हैं, अनु. यदु. तुर्वसु. द्रह्य और पुरु इन पाँच के साथ भी जन संयोजित है।[5]

वैदिक ग्रन्थों में 'राजन्' शब्द का प्रयोग अनेक बार होने के कारण यह भ्रान्ति पैदा होती है। कि वैदिक काल में राजा का पद ठीक उसी तरह से स्थापित था जिस तरह से बाद के दिनों में राजतन्त्र प्रतिष्ठित हुआ। वास्तव में राजन् शब्द की उत्पत्ति जनजातीय है। राजन् शब्द से जनजाति के नेता अथवा सरदार का बोध होता था न कि राजा अथवा शक्तिशाली राजतन्त्र का, जैसा कि सामान्यतः कहा जाता है। राजन् शब्द का अर्थ जनजातीय नेता होने की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि उसके लिए 'जनस्य गोप' अथवा 'गोपति' शब्द का

प्रयोग किया गया है।[6] दोनों ही शब्दों का अर्थ गोपालक से है। इस शब्द का राजन् के लिए प्रयोग सम्भवतः इस कारण होने लगा क्योंकि जाति अथवा जन की जान–माल की रक्षा करना उसका दायित्व था।

चूंकि ऋग्वेद में श्रम–विभाजन वंशगत नहीं हुआ था, इसलिए एक ही कुटुम्ब के लोग अनेक प्रकार के श्रम कर सकते थे। यह सही है कि ऋग्वैदिक समाज मोटे तौर पर समतामूलक था लेकिन सामाजिक भेद–भाव कुछ–कुछ शुरू हो गया था। यद्यपि यह निर्विवाद है कि ऋग्वेद के समय में भी भारतीय आर्य–समाज विभिन्न वर्गों में विभक्त था, फिर भी अधिकांश उद्धरण वर्गों की उत्पत्ति की उपेक्षा कर केवल मनुष्य की उत्पत्ति की चर्चा करते हैं। केवल पुरूष सूक्त ने ही वर्गों की उत्पत्ति का वर्णन आवश्यक समझा,[7] किन्तु ऋग्वेद में वैसा सामाजिक स्तरीकरण नहीं मिलता जैसा कि बाद के ग्रन्थों में दिखाई देता है। ऋग्वेद में चौदह बार ब्राह्मण का, नौ बार क्षत्रिय का और एक बार राजन्य का उल्लेख मिलता है, पर न तो ब्राह्मण और न क्षत्रिय कहीं भी संगठित श्रेणी के रूप में आये हैं।[8] क्षत्रिय शब्द बलवान के अर्थ में वरूण की एक उपाधि या विशेषण के रूप में चार बार आया है।[9] जहाँ तक वैश्व और शूद्र का प्रश्न है, यदि हम दशम् मण्डल के एक प्रक्षिप्त अंश को छोड़ दें तो ऋग्वेद में इन दोनों का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है।[10] ऋग्वेद में सात प्रकार के पुरोहित मिलते हैं। इनमें एक ब्राह्मण भी है, पर इसे कोई प्रमुख स्थान नहीं दिया गया है। चाहे जो भी हो, ऋग्वेद में योद्धा, सरदारों का हौसला बढ़ाने में पुरोहितों की भूमिका उल्लेखनीय रही है। निरन्तर चलते अनुष्ठानों से सरदार की सत्ता प्रबल होती गई जिसमें सामान्य जनों (विश्) से उसकी दूरी बढ़ती गई। उत्तर वैदिक ग्रन्थों में प्रभुत्व के वाचक अनेक शब्द मिलते हैं, जैसे राजन्, राजन्य राजन्यबन्धु, क्षत्र और क्षत्रिय। राजन्य शायद राजन् का लघुत्वार्थक है और इसका अर्थ है सरदार का निकट नातेदार। राजन्यों की संख्या राजाओं की संख्या से कहीं अधिक होती थी। राजन्य और क्षत्रिय पर्यायवाची हैं और कई स्थानों पर राजन्य को क्षत्र कहा गया है।[11] क्षत्र का अर्थ सत्ता या शक्ति है। जिस किसी के पास सत्ता या शक्ति होती थी, वह क्षत्रिय समूह में गिना जाता था। तद्नुसार मरूत आविक्षित, जो अवैदिक वंश का आयोगव था, अभिषेक का अधिकारी समझा गया है।[12] लेकिन जब क्षत्रिय एक कोटि या वर्ग बन गया तब वह एक प्रकार के बन्धुत्वमूलक परिवार में परिणत हो गया। उल्लेखनीय बात यह है कि बाद में चलकर इस क्षत्रिय शब्द का व्युत्पत्यर्थ, इसके मुख्य कर्तव्य के आधार पर, अर्थात् क्षत्र (चोट, अभिघात) से रक्षा करने वाला कल्पित कर लिया गया।[13]

वैदिक ग्रन्थों में क्षत्रिय किसी वर्ण का सदस्य प्रतीत नहीं होता। वह अपने आप में उत्कृष्ट व्यक्ति होता था। वह सर्वोच्य प्रमुख्या जैसा लगता था, और इस सन्दर्भ में कर्मकाण्डों से प्रकट होता है कि क्षत्र–क्षत्रिय और विश्–वैश्य के बीच सतत् संघर्ष चलता रहता था।[14] सोम–यज्ञ के सौत्रामणी अनुष्ठान की एक विधि से यह प्रकट होता है कि क्षत्र, विश् से ही फूटकर निकला है। देवों और पितरों को दी जाने वाली आहुतियों के प्रसंग में कहा गया है कि दूध चढ़ाने से यजमान को सोमरस मिलता है, और सुरा चढ़ाने से अन्न। यह भी कि दूध आधिपत्य (राजा) का द्योतक है और सुरा विश् (प्रजा) का। अन्त में कहा गया है कि वह पहले सुरा को शुद्ध करता है तब दूध को, इस प्रकार वह विश् (प्रजा) से क्षत्र (आधिपत्य) उत्पन्न करता है हालांकि कभी–कभी, क्षत्र की उत्पत्ति ब्राह्मण से भी बतलाई गई है।[15]

उत्तरवैदिक कर्मकाण्डों से पता चलता है कि सामान्य संरचना में कई प्रकार के अन्तर्विरोध उपस्थित हो चुके थे। केन्द्रीय सरदार या राजा और बिखरे हुए अनेकानेक कुलों के सरदारों–राजाओं के बीच संघर्ष चलता रहता था। राजसूय यज्ञ के लिए विहित गविष्टि (गाय जीतने) की विधि में कहा गया है कि राजा राजन्यों के साथ युद्धलीला करेगा और उन पर तीरों से प्रहार करके विजय प्राप्त करेगा। यह कहना असत्य न होगा कि केन्द्रीय सरदासर विभिन्न जातियों या कुलों के सरदारों द्वारा चुना जाता था। इसके अलावा, केन्द्रीय सरदार या राजा और उसके निकट नातेदार राजन्यों, जिनके सहारे वह कर उगाहता था, दोनों के हित मिलते भी थे और टकराते भी थे। कमजोरी का सबसे बड़ा कारण था राजन्य और विश् के बीच का अन्तर्विरोध, प्रथम पक्ष में था अभिजात वर्ग, अर्थात् राजा के सहयोगी निकट नातेदार और द्वितीय पक्ष में था उत्पादक वर्ग, अर्थात् कृषक का कार्य करने वाले सामान्य बन्धुजन। इस प्रकार का अन्तर्विरोध कई अनुष्ठानों में लक्षित होता है। बन्धु–समुदाय के भीतर, यानी भाई–बन्धुओं के बीच एक ओर राजन्य या क्षत्र और दूसरी ओर सामान्य कृषक बन्धुजन के बीच कर की उगाही को लेकर खींचातानी निरन्तर चलती रहती थी। राजा या सरदार अपने लोगों (बन्धुजनों) की रक्षा भी करता था और उनसे कर भी उगाहता था। वह कर का कुछ अंश उत्सव के अवसरों पर बाँटता भी था, लेकिन इस बाँट में अधिकाधिक भाग पुरोहितों को मिलता था, सामान्य बन्धुजनों को नहीं।[16] राजा करग्राहक था और साथ ही साथ वितरक और पालक भी। रक्षक और भक्षक के दो रूपों के बीच सामंजस्य नहीं हो पाता था। इसलिए राजा को विशाम्पति और विशामत्ता दोनों कहा गया है।[17]

इस अन्तर्विरोध को उत्तरवैदिक काल में नई गति प्राप्त हुई। इसकी जड़ में थी कृषि। कृषि में अब अधिशेष उत्पादन की सम्भावनाएँ बढ़ी जिसके फलस्वरूप वर्ण पर आधारित सामाजिक विभाजन की प्रक्रिया की शुरूआत हुई।[18] यद्यपि सामाजिक वातावरण अभी तक लौह तकनीक को उत्पादन के लिए स्वीकार करने को तैयार नहीं था परन्तु तत्कालीन परिवर्तनों के सन्दर्भ में इसकी एक निश्चित ऐतिहासिक भूमिका थी।[19] शासक वर्ग उत्पादन की पूरी प्रक्रिया को पूर्णरूपेण नियन्त्रित कर इससे अधिकाधिक लाभा उठाने की ताक में था। मार्क्स इस ऐतिहासिक प्रक्रिया का वर्णन करते हुए कहता है कि 'प्रत्येक युग में शासक वर्ग का विचार प्रभावी विचार होता है, अर्थात् वह वर्ग जो समाज की भौतिक सम्पदा को अपने अधीन रखता है, बौद्धिक ऊर्जा का भी इस्तेमाल अपने हित में करता है। जिस वर्ग का नियन्त्रण भौतिक उत्पादन की व्यवस्था पर होता है वह वर्ग बौद्धिक उत्पादन की क्षमताओं को भी अपने हितों के अनुरूप संगठित करता है। फलस्वरूप जिनके पास बौद्धिक उत्पादन विधि की कमी है उनके विचारों पर इस वर्ग का प्रभुत्व होता है। शासकीय विचारधारा वस्तुतः प्रभावी भौतिक सम्बन्धों की अभिव्यक्ति से ज्यादा कुछ नहीं होती क्योंकि प्रभावी भौतिक सम्बन्ध ही विचारों का रूप लेता है।[20]

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में विशेषाधिकार प्राप्त ब्राह्मण एवं क्षत्रिय समूहों के आपसी सम्बन्धों के बारें में स्पष्ट नहीं है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक क्रियाकलापों पर अपना एकाधिकार कायम कर ब्राह्मण समाज में अग्रणी हो चुका था। अतः धार्मिक सत्ता में हिस्सेदारी के लिए ब्राह्मणों से क्षत्रियों का विरोध अत्यन्त स्वाभाविक था।[21] तैत्तिरीय संहिता में साफ–साफ कहा गया है कि क्षत्रिय बाकी तीन वर्णों पर शासन करने की क्षमता

रखता है जबकि ब्राह्मणों में शासन करने की क्षमता है ही नहीं[22] धर्मसूत्रों में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता की दुहराई गई है परन्तु बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में भी इस महत्वपूर्ण तथ्य की चर्चा है क्षत्रियों से ब्राह्मणों की हीनता तथा उनका क्षत्रियों के अधीनस्थ होना।[23] राजसू यज्ञ में क्षत्रिय के बाद ही ब्राह्मण को पात्र माना गया है।[24] यही कारण था कि राजसूय यज्ञ के दौरान ब्राह्मणों के बैठने की जगह क्षत्रियों के नीचे थी। भले ही यह स्थिति राजनीति के क्षेत्र तक सीमित हो परन्तु तत्कालीन ग्रन्थों में स्पष्टतया उल्लिखित है और पालि साहित्य के प्रथम चरण में इसी सत्ता समीकरण की सुस्पष्ट अभिव्यक्ति उन ऐतिहासिक निष्कर्षों पर प्रश्नचिह्न लगा देती है जो ब्राह्मण–क्षत्रिय संघर्ष को ही वर्ग–निर्माण के आरम्भिक चरण का प्रमुख सामाजिक तथ्य मानते हैं। यह सुझाव दिया गया है कि सामाजिक अधिशेष के बंटवारे के लिए चल रहा संघर्ष जब उत्तर वैदिक युग के अन्त तक आते–आते तीव्र हो गया, तब इस चरण के वैदिक ग्रन्थों ने, विशेषकर शतपथ ब्राह्मण ने, शासक वर्ग के दोनों घटकों–ब्राह्मण एवं क्षत्रिय के बीच एकता एवं सहयोग पर बल देना आवश्यकता समझा।[25]

इन सुझावों के बावजूद यदि हम समकालीन सामाजिक समूहों को उत्पादन की विधि में स्थपित कर देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि सामाजिक संघर्ष मूलतः क्षत्रियों और वैश्यों के आपसी सम्बन्धों के इर्द–गिर्द केन्द्रित था। परम्पराओं में वैश्यों या कृषकों के प्रतिरोधों की चर्चा नहीं है, परन्तु कर्मकाण्डों में इस बात के संकेत उपलब्ध हैं। सोचने की बात यह है कि अधिशेष उत्पादित करने वाले वैश्य समुदाय से वास्तविक जीवन में शूद्रों की तरह व्यवहार क्यों किया जाता था। उत्पादन की प्रक्रिया में निहित उनके महत्त्व को ध्यान में रखते हुए उनके निम्न सामाजिक दर्जे की बात गले से नीचे नहीं उतरती है। यह एक आम जानकारी है कि अधिशेष उत्पादित करने वाला समूह सम्पूर्ण उत्पादन–तन्त्र को प्रभावित करने का प्रयास करता है।[26] वस्तुतः गंगा घाटी के बढ़ते कृषिकरण के फलस्वरूप वैश्यों के आर्थिक प्रभाव में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है नव–जन्मे राज्य का अस्तित्व तथा राज्य निर्माण की प्रक्रिया की निरन्तरता अब काफी हद तक इन्हीं पर निर्भर हो गई। इसने अन्तरवर्ण सम्बन्धों को एक नया आयाम दिया और ऐसे समीकरण के निर्माण की शुरूआत की जिसमें वैश्यों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए क्षत्रियों और ब्राह्मणों को साथ लाने का प्रयास हुआ।[27]

उत्तर वैदिक ग्रन्थों में जो प्रबल जनमानस दिखायी देता है। उसमें एक ओर सरदार (राजा, राजन्य, क्षत्र, क्षत्रिय) और दूसरी ओर विश् या कृषक बन्धुजन के बीच भेद–बोध उभरकर आता है।[28] इन दोनों के बीच के भेद को रेखांकित करने के लिए तरह–तरह की उपमाओं का प्रयोग किया गया है। प्रथम हरिण है, तो द्वितीय यव, प्रथम अश्व है तो द्वितीय अन्य जन्तु या प्रथम सोम है तो द्वितीय अन्य वनस्पति, प्रथम, दूध है, तो द्वितीय सूरा। इन उपमाओं को पुरोहितों ने चलाया ताकि करदाता कृषक राजन्यों (क्षत्रियों) और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता सहज भाव से स्वीकार करते रहे। राज सोम के सन्दर्भ में कहा गया है कि जब क्षत्रिय उच्च स्थान में रहता है, तब विश निम्न स्थान में रहते हुए उनकी सेवा करता है।[29] हवन की वेदी बनाने के अनुष्ठान से भी प्रकट होता है कि क्षत्र और विश के बीच कैसा सम्बन्ध था। वेदी ईंटों से उसी प्रकार बनायी जाती है। जिस प्रकार क्षत्र (सरदार) विश् से प्रबल बनाया जाता है और विश नीचे से उसका अनुयायी बना जाता है। बार–बार कहा गया

है कि स्तुति (अभिमंत्रित) ईंटें क्षत्र की द्योतक हैं और खाली जगह भरने की ईंटें विश की द्योतक हैं प्रथम भोक्ता हैं और द्वितीय भोग्य है।

परम्पराओं में वैश्यों या कृषकों के प्रतिरोधों की चर्चा नहीं है, परन्तु कर्मकाण्डों में इस बात के संकेत उपलब्ध हैं। कर्मकाण्डों से प्रकट होता है कि राजन्य और विश् के बीच संघर्ष छिड़ता था और उसमें ब्राह्मण या अन्य प्रकार के पुरोहित राजन्य की ओर से बीच–बचाव करते थे। कई अनुष्ठानों में राजन्य और ब्राह्मण या अन्य प्रकार के पुरोहित राजन्य की ओर से बीच–बचाव करते थे। कई अनुष्ठानों में राजन्य और ब्राह्मण मिलकर विश और शूद्र का सामना करते थे[30] ब्राह्मण ग्रन्थों[31] में दोनों उच्च वर्णों की रक्षा की कामना वाली स्तुतियाँ मिलती हैं। कहा गया है कि वैश्व और शूद्र ब्राह्मण और क्षत्रिय से घिरे हैं तथा, जो ने क्षत्रिय हैं, न पुरोहित वे अपूर्ण हैं।[32] राजसूय यज्ञ के परवर्ती रूप में वैश्व और शूद्र को द्यूत–क्रीड़ा में भी शामिल नहीं किया गया है। दिलचस्प बात यह है कि राजा न केवल वैश्यों और शूद्रों को, बल्कि ब्राह्मणों को भी वश में रखने का प्रयास करता है।[33]

यद्यपि ब्राह्मणों और क्षत्रियों की भलाई इसी में थी कि वे वैश्यों और शूद्रों के विरूद्ध आपस में मिलकर रहें, फिर भी दोनों आपस में लम्बे युद्धों में संलग्न रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि पनपते वर्ग–वर्णमूलक समाज में संघर्ष मुख्यतः सामाजिक श्रेष्ठता प्राप्त करने हेतु होते थे, वैश्यों से प्राप्त भेंट तथा कर तथा शूद्र समुदाय के प्राप्त दास–दासी आदि श्रमिकों के बँटवारे के प्रश्न भी उनसे जुड़े रहते थे। क्षत्रियों में ज्ञानोत्कर्ष का दावा और यज्ञ–विरोधी भावना निश्चय ही इसलिए उदित हुइ कि पुरोहितों को अपनी दान–दक्षिणा निरन्तर मिलते रहना उन्हें खलता था[34]। अन्ततोगत्वा यह संघर्ष एक सामंजस्यपूर्ण समझौते में खत्म हुअ अब क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का धार्मिक नेतृत्व स्वीकार कर लिया और ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का राजनैतिक नेतृत्व। यह समझौता टूटता सा लगता था जब दोनों ही प्रमुख वर्ग अपने अधिकार क्षेत्रों का अतिक्रमण कर अपनी श्रेष्ठता का दावा पेश करते थे। इस प्रकार संघर्षों की चरम परिणति हुई वर्ण–व्यवस्था के उदय में, जिनके अनुसार वैश्यों और शुद्रों को ब्राह्मणों और क्षत्रियों की श्रेष्ठता शिरोधार्य हो गई। इसी वर्ण–व्यवस्था की मदद से राजा ने अपना अलग अस्तित्व कायम किया और धर्म (अर्थात् वर्ण–धर्म) की रक्षा का भार अपने ऊपर लिया। उत्तर वैदिक काल में वर्ण और राजसत्ता के समर्थन मे बहुत सी आनुष्ठानिक और वैचारिक युक्तियाँ निकाली गई और वैदिकोत्तर काल में इस व्यवस्था की नींव पर खड़े किय गये धर्मशास्त्र ने वर्ण और राजसत्ता दोनों का समृद्ध किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था का उदय सम्पत्ति सम्बन्धों के आये क्रमिक विकास का ही नतीजा था। इसलिए ठीक ही कहा गया है कि वर्णों का विभाजन श्रम विभाजन के साथ ही सम्पत्ति का भी विभाजन था।[34]

सन्दर्भः–

1. ऋग्वेद 7, 104, 12
2. वही, 7, 104, 12
3. आर0एस0 शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पी0पी0एच0, 2001, पृ017
4. आर0एस0 शर्मा, भारत में भौतिक प्रति एवं सामाजिक संरचनाएँ, पृ0 84
5. आर0एस0 शर्मा, मेटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फॉर्मेशंस, पृ0 48
6. आर0एस0 शर्मा, प्राचीन भारत में राजनीतिक विचार एवं संस्थाएँ, पृ0 393
7. डॉ0 भीमराव अम्बेडकर, शूद्र कौन थे, पृ0 8
8. रामशरण शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पृ0 10
9. ए0ए0 मैकडॉनेल, वैदिक माइथॉलॉजी, स्ट्रांसबर्ग, 1896 पृ0 25
10. आर0एस0 शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पृ0 10
11. पी0पी0 काणे हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र भाग–1, पृ0 30–31
12. आर0एस0 शर्मा, शूद्राज इन एंशिएण्ट इण्डिया, पृ0 60
13. आर0एस0 शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पृ0 13
14. वहीं, पृ0 14
15. 'विशो हि क्षत्रम् जायते। शतपथ ब्राह्मण, 12.7.3.8
16. शतपथ ब्राह्मण, 7.7.3.8
17. तैत्तिरीय संहिता, 1.8.15; सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट, पृ0 100, पाद टिप्पणी।
18. विजय कुमार ठाकुर, प्रारम्भिक बिहार में कृषक समुदाय का अभ्दुय, इतिहास, अंक–1, भाग–1, पृ0 65
19. वही
20. मार्क्स और एंजेल्स, सेलेक्टेड करेस्पाण्डेन्स, द्वितीय संस्करण, प्रोग्रेस पब्लिशर्स, माक्सो, 1955 पृ0 417
21. सुरेन्द्र कुमार श्रीवास्तव, वैदिक साहित्य में वर्ण व्यवस्था, नगीना प्रकाशन, वराणसी, 1987, पृ0 220
22. ऐतरेय ब्राह्मण, 7.16
23. तैत्तिरीय संहिता, 2.5.10
24. शान्ता आनन्द, क्षत्रियाज इन एंशिएंट इण्डिया, आर्य बुक डिपो, दिल्ली, 1985, पृ0 120
25. आर0एस0 शर्मा, मेटीरियल कल्चर एण्ड सोशल फॉमेंशंस, 1983 पृ0 81–82
26. डी0डी0 कोसांबी, ऐन इण्ट्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, पापुलर प्रकाशन बम्बई, 1985, पृ0 100
27. तैत्तिरीय संहिता, 2.1.12
28. रामशरण शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पृ0 14
29. शतपथ, ब्राह्मण, 3.9.3.6
30. वही पृष्ठ 18

31. शतपथ ब्राह्मण, 5.2.1.1.6.1.17.18; 4.41.7.—8

32. वही 6.4.4.12—13

33. आर0एस0 शर्मा, भारत में राज्य की उत्पत्ति, पृ0 19

34. एस0जी0 सरदेसाई, प्राचीन भारत में प्रगति एवं रूढ़ि पी0पी0एच0, जयपुर 1988, पृ0 33